

स्वच्छ भारत अभियान

कितने सारे मौन ?

सुभाष गाताड़े

हिंदू समाज व्यवस्था एक ऐसे श्रम विभाजन पर टिकी है जिसके अंतर्गत हिंदुओं के लिए स्वच्छ और सम्मानजनक काम आरक्षित किये गये हैं और अछूतों को गंदे और हलक़े काम सौंपे गये हैं। इस तरह वह व्यवस्था हिंदुओं को सम्मान के आवरण से ढँकती है और अछूतों पर लांछन लादती है।

— 'द रिवोल्ट ऑफ़ अनटचेबिल्स': डॉ. बाबासाहेब आम्बेडकर
('एसेज़ ऑन अनटचेबिल्स ऐंड अनटचेबिलिटी',
राइटिंग ऐण्ड स्पीचेज़, खण्ड 5, महाराष्ट्र सरकार, 1989 : 256–58.

पिछले दिनों मोदी सरकार द्वारा स्वच्छ भारत अभियान का टीवी कैमरों के सामने 'लाइव' आगाज़ बड़ी धूमधाम से तमाम मंत्रियों, नौकरशाहों और उनके चहेतों की मण्डली के बीच हुआ। इस अभियान की 'नवीनता' और 'सृजनशीलता' के क़ायल ऐसे लोग भी होते दिखे, जो मौजूदा हुक़ूमत के आलोचक रहे हैं। इस अभियान को ले कर कूड़ा बीनने में लगे रहने वाले संजय की प्रतिक्रिया बड़ी दिलचस्प थी। संजय अपने माता-पिता के साथ दिल्ली के मेहरौली में रहता है। टीवी पर मंत्रियों, नौकरशाहों और उनकी मण्डली को झाड़ू पकड़े देख कर उसने आश्चर्य प्रगट करते हुए कहा :

> ये वही लोग हैं जिनके घरों का कूड़ा हम रोज़ उठाते हैं। यह हमारी ज़िंदगी का हिस्सा है। हम नहीं समझ पा रहे हैं कि आज उसी को ले कर ये सब इतना दिखावा क्यों कर रहे हैं।
>
> — मल्लिका जोशी [1]

I

एक मोटे अनुमान के हिसाब से संजय को हम राजधानी के उन तीन लाख लोगों की आबादी में शुमार कर सकते हैं जो आमतौर पर नज़र नहीं आते। मगर शहर के कूड़ा-प्रबंधन में— घरों से कूड़ा उठाने से ले कर उसे रीसाइकिल करने के लिए अलग-अलग करने तक— अहम भूमिका अदा करते हैं। हम जानते हैं कि उनके बिना यह शहर ठप्प हो सकता है। यह देखना मुश्किल नहीं है कि इतनी सारी आबादी की मौजूदगी से सरकार बिल्कुल ग़ाफ़िल है, जबकि वह इन लोगों की कड़ी मेहनत का लाभ उठाने में संकोच करती नहीं दिखती। कुछ साल पहले दिल्ली में राष्ट्रमण्डलीय खेलों का आयोजन हुआ था। उन दिनों सूबे में हुक़ूमत की तरफ़ से कुछ सौ कूड़ा बीनने वालों को यूनिफॉर्म और सुरक्षा उपकरण भी दिये गये थे और शहर साफ़ रखने में उनकी सेवाओं पर 'मुहर' भी लगाई गयी थी।

अब समय शायद बदल गया है और सत्ता का सूत्र सँभालते लोगों की निगाह में इनका कोई वजूद नहीं रह गया है। संजय की प्रतिक्रिया को प्रकाशित करने वाले उसी अख़बार ने आगे यह भी जोड़ा था कि 'जबकि उनकी कड़ी मेहनत का लाभ उठाने से सरकार को गुरेज़ नहीं है, मगर वह उनकी मौजूदगी से पूरी तरह इनकार करती दिखती है।'

वैसे 'क्लीन इण्डिया' के नाम पर चलने वाली मुहिमों से संजय जैसों का सम्पूर्ण हाशियाकरण आश्चर्यजनक नहीं जान पड़ता। वह दरअसल उन तमाम 'चुप्पियों' और 'विलोपों' को ही प्रतिबिम्बित करता दिखता है, जो इन मुहिमों को शुरू करते समय नज़र आयी थीं। चंद विश्लेषकों ने इस बात की तरफ़ भी बख़ूबी इशारा किया था किस तरह उपनिवेशवाद और हर क़िस्म के सम्प्रदायवाद के ख़िलाफ़ गाँधी द्वारा ताउम्र चलाए गये संघर्ष को लगभग भुलाते हुए उनकी विरासत को इस अभियान के तहत महज़ 'सफ़ाई' तक घटा दिया गया है। इसी के साथ अतीत के असुविधाजनक दिखने वाले पन्नों की भी 'सफ़ाई' करने की कोशिश की गयी है। यशस्वी करार दे दिये गये प्रधानमंत्री की अगुआई में शुरू इस अभियान के ज़रिये एक अलग क़िस्म के साफ़-सुथराकरण अर्थात् सैनिटाइज़ेशन की पहल ली गयी, जिसके ज़रिये हमारे समाज का एक समरस चित्र प्रस्तुत करने की कोशिश हुई। इसमें सफ़ाई या उसका अभाव 'भारत माता' की तरफ़ हमारे 'कर्तव्य' को ही उजागर करता दिख रहा था। उपस्थितों को जो शपथ प्रधानमंत्री की तरफ़ से दिलाई गयी थी वह इस प्रकार की थी :

> 'अब हमारा कर्तव्य है कि गंदगी को दूर करके भारतमाता की सेवा करें।'

क्या इस समूची आपाधापी में किसी के कानों में 'जाति-व्यवस्था' का नाम पड़ा। ज़ाहिर सी

---

[1] मल्लिका जोशी, 'पीएम्ज़ स्वच्छ भारत अभियान हैज़ नो प्लेस फ़ॉर डेलहीज़ थ्री लाख रैग पिकर्स', *हिंदुस्तान टाइम्स,* 3 अक्टूबर, 2014, नयी दिल्ली.

बात है कि नहीं। बजाय इसके राष्ट्रीय मीडिया के नुमाइंदे इस 'पल' को अपने कैमरे में क़ैद करने के लिए सक्रिय बने रहे ? दरअसल जाति-व्यवस्था और उससे जुड़ा भेदभाव इतना आम हो चला है और हमारे मानस का इस क़दर हिस्सा बन चुका है कि मीडिया में बैठे लोगों को भी उसमें ख़बर देने लायक़ कुछ नहीं दिखता। एक क्षेपक के तौर पर यहाँ इस बात का भी उल्लेख करना समीचीन होगा कि चाहे प्रिंट हो या इलेक्ट्रॉनिक, दोनों तरह मीडिया में, निर्णायक पदों पर वर्चस्वी जातियों के पुरुषों की इस क़दर बहुतायत है कि उत्पीड़ित जातियों की ख़बरें ख़ास जगह बना ही नहीं पातीं। [2]

इस लेख में हमारा सरोकार यह दिखाना है कि 'स्वच्छ भारत अभियान' जैसे कई बार सरल से दिखने वाले नारे आकर्षक अवश्य जान पड़ते हैं, मगर उनके साथ एक अंदेशा हमेशा रहता है कि उनका सतहीपन व्यापक जटिल यथार्थ को समेटने में नाकाम हो कर ऐतिहासिक विषमताओं, अन्यायों और नस्लवाद के आधुनिक रूपों को नयी मज़बूती प्रदान न करने लगे।

II

इसके पहले कि हम गाजे-बाजे के साथ शुरू की गयी इस मुहिम का बारीक़ी से विश्लेषण करें, एक सरसरी निगाह उन लोगों की ज़िंदगियों की तरफ़ डाली जा सकती है, जो इस पेशे में लगे हैं। मशहूर फ़ोटोपत्रकार सुधाकर ओलवे द्वारा ऐसे लोगों की ज़िंदगी पर तैयार किया 'फ़ोटो निबंध'— 'इन सर्च ऑफ़ डिग्निटी ऐंड जस्टिस' आँखें खोलने वाला साबित हो सकता है। [3] उन्होंने अपना कैमरा सफ़ाई कर्मचारियों और ऐसे ही हाशियाकृत तबक़ों पर केंद्रित किया है। वे बताते हैं कि मुम्बई में लगभग तीस हज़ार सफ़ाई कर्मचारी हैं जो बृहन-मुम्बई म्युनिसिपल कॉरपोरेशन के लिए काम करते हैं। उनके मुताबिक़ :

> वे सभी दलित हैं, जो जाति व्यवस्था के सबसे निचले पायदान पर स्थित हैं। वे न के बराबर शिक्षित हैं। बिना अपवाद, सभी अपने काम से घृणा करते हैं। शेष समाज द्वारा उनकी पूरी तरह उपेक्षा की जाती है या उन्हें नीची निगाहों से देखा जाता है। उन्हें बजबजाती गंदगी के बीच काम करना पड़ता है, जहाँ उन्हें बचाने के लिए कोई सुरक्षा उपकरण भी नहीं होता। यहाँ तक कि ठीक से पानी तक उपलब्ध नहीं होता कि वे ख़ुद को धो सकें। अधिकतर शराब के आदी होते हैं, बेहद ग़रीबी में रहते हैं ... यह सभी कामगार अपनी पत्नियों और बच्चों से दुर्व्यवहार करते हैं। और जब पतियों की मौत होती है तो यह घृणित काम विधवाओं को सौंपा जाता है, और निराशा का चक्र जारी रहता है।

सुधाकर अपने कथन में आगे जोड़ते हैं : 'मैं चाहता हूँ कि नागरिक इन कामगारों को देखें और उनकी मौजूदगी तथा योगदान को कबूल करें।' अपनी छोटी-सी टिप्पणी के अंत में वे 'फ़ोटोग्राफ़ी को लेकर अपनी समझ का परिचय इन शब्दों में देते हैं : 'लोगों से कुछ करने का आह्वान करना, इन चित्रों को देखते हुए लोग व्यापक चित्र अर्थात् परिदृश्य बदलने के बारे में सोचें, यही मेरी कामना है।'

सुधाकर ओलवे द्वारा प्रस्तुत दृश्य-आख्यान एक तरह से मुझे अपने उस संक्षिप्त अनुभव की याद दिलाता है जब हम कुछ साथियों ने सीवर में होने वाली मौतों को ले कर कुछ करने की कोशिश की थी। वह 2004 का वर्ष था जब अख़बारों में सीवर में होने वाली मौतों को लेकर कुछ समाचार छपे। इन ख़बरों से विचलित हो हम लोगों ने कुछ करने की ठानी। सबसे पहला क़दम था, इन मौतों से जुड़े तथ्यों का संग्रह करना, गटर कामगार अर्थात् सीवर मज़दूरों की काम करने की परिस्थितियों के बारे में जानना, उन पीड़ित परिवारों से भी मिलना जिन्होंने अपने किसी आत्मीय को इस गटर-

---

[2] देखें, मीडिया स्टडी ग्रुप की तरफ़ से कुछ साल पहले किये गये अध्ययन की रिपोर्ट : http://defencefprumindia.com /forum/politics-delhi.html and http://thehoot.org/web/The-untold-story-of-Dalit-journalists/6956-1-1-19-true.html/

[3] http://www.galli.in2013/10/search-dignity-justice-sudharak-olwe.html



सफ़ाई में खोया है, सफ़ाई कर्मचारी आयोग के अधिकारियों से मिलकर उनसे जानकारी हासिल करना तथा इस क्षेत्र में पहले से कार्यरत लोगों और संगठनों से मुलाक़ात करना। इन तथ्यों के आधार पर हम लोगों ने एक कच्ची रिपोर्ट तैयार की। दूसरा क़दम था इस मुद्दे को लेकर सिविल सोसायटी अर्थात् आम नागरिकों के बीच प्रचार अभियान चलाना ताकि उन्हें इस बात के प्रति संवेदनशील बनाया जा सके कि यह पेशा जनतंत्र का एक कलंक है। अपनी बातों को लोगों तक पहुँचाने के लिए हम लोगों ने एक छोटा-सा नुक्कड़ नाटक तैयार किया, हैण्डबिल भी बनाया और अलग-अलग इलाक़ों में जाकर आम सभाएँ भी कीं। इस मुहिम की परिणति दिल्ली के कांस्टीट्यूशन क्लब में एक विशाल जन सभा में हुई, जिसमें कुछ पीड़ित परिवार भी आये थे।

पिछले दिनों मेरी निगाह अचानक उस पर्चे पर गयी, जो उन दिनों हम लोगों ने बाँटा था। 'शहर के सीवर या मौत के कुएँ' शीर्षक उस पर्चे की शुरुआत उन्हीं दिनों, 12 जून, 2004 को समयपुर बादली नामक दिल्ली के इलाक़े में, सीवर सफ़ाई करते हुए आला और उमेश की मौत से होती है। यह पर्चा ऐसी मौतों के बारे में सत्ताधारी तबक़े की बेरुखी और मीडिया की निर्लिप्तता की बात करते हुए इस बात की भी चर्चा करता है कि किस तरह सीवर में उतरने वाले श्रमिकों को कोई सुरक्षा उपकरण नहीं दिये जाते। पर्चे का अंत सीवर में होने वाली मौतों को लेकर मुआवज़े का अभाव और किसी भी व्यक्ति पर न चलने वाले मुक़दमे के साथ होता है। यक़ीन मानिए, मैं जब उस पर्चे को फिर पढ़ रहा था, तो मुझे लगा कि जहाँ तक इस मसले का ताल्लुक़ है, हमारी समझदारी बेहद प्रारम्भिक क़िस्म की थी। न हम स्थिति की गम्भीरता से वाक़िफ़ थे और न ही उन उपायों की सीमाओं से परिचित थे जिन्हे समस्या को काबू में रखने के लिए प्रस्तुत किया जा रहा था।

हमारे संक्षिप्त हस्तक्षेप के महज तीन साल बाद अर्थात् 2007 में सिरियावन आनंद नामक पत्रकार ने अंग्रेज़ी साप्ताहिक *तहलका* में इस पर एक स्टोरी की जिसका शीर्षक था 'लाइफ इनसाइड ए ब्लैक होल'। लेख में 'भारत की बढ़ती चकाचौंध में छिपे उन स्याह कोणों की चर्चा थी, जिसमें ज़हरीली गैसें भरी होती हैं और लाखों दलितों को बीमारियों एवं अस्पृश्यता के एवज में यहाँ जीवनयापन के लिए काम करना पड़ता है।'

इस रिपोर्ट के कुछ तथ्य दिमाग़ को सुन्न करने के लिए काफ़ी थे। आनंद के मुताबिक़ हर साल सैनिटेशन के काम में एक दलित उपजाति के 22, 327 लोग मरते हैं। सफ़ाई कामगार विकास संघ, जो बृहन-मुम्बई म्युनिसिपल कॉरपोरेशन के सैनिटेशन कामगारों की नुमाइंदगी करने वाली संस्था है। उसने सूचना के अधिकार के ज़रिये 2006 में तथ्य एकत्रित करने की कोशिश की और पाया कि 2004-05 के दरमियान 288 सफ़ाई कामगार मरे। 2003-04 में यह आँकड़ा 316 था। 2002-03 में 320 लोग मरे थे। यह संख्या कॉरपोरेशन के 24 वार्डों में से महज़ 14 वार्डों की थी। यानी हर माह 25 मौतें। इनमें सिविल अस्पताल के कामगार, गटर कामगार या ठेके पर काम करने वाले सैनिटेशन मज़दूरों के आँकड़े शामिल नहीं हैं। आप इन आँकड़ों की तुलना 1990 से 2007 के दरमियान जम्मू कश्मीर में आतंकवाद से लड़ते मारे गये 5,100 सैनिकों की संख्या के साथ कर सकते हैं।

लेख में यह भी रेखांकित किया गया था कि ज़हरीली गैसों से मरने वालों की यही एकमात्र संख्या नहीं है। दरअसल सीवर में काम करने वाले अधिकतर मज़दूर रिटायरमेंट के पहले ही मर जाते हैं। मैनहोल में काम करने वाले कामगार का औसत जीवन 45 साल होता है। अगर कामगार मैनहोल के अंदर नहीं मरता है तो उसके लिए कोई वित्तीय मुआवज़ा नहीं मिलता। ऐसी मौतों को पेशागत ख़तरे की तार्किक परिणति समझा जाता है, जिसके लिए कामगार को 'रिस्क अलाउंस' अर्थात् 'जोखिम भत्ता' मिलता है, जो दिल्ली में प्रतिमाह महज़ 50 रुपये है।

इस रिपोर्ट में पेशागत स्वास्थ्य चिकित्सक आशिष मित्तल को उद्धृत किया गया था। उन्होंने 2005 में सीवर कामगारों पर एक अध्ययन किया है : 'होल टू हेल'। इसमें उस प्रश्न का भी जवाब देने की कोशिश की गयी है, जो सवाल ऐसी बहस में आमतौर पर उठता है। सीवर मौतों के सिलसिले में हम भारत की परिस्थिति की तुलना अधिकतर विकसित मुल्कों की परिस्थिति के साथ किस तरह कर सकते हैं? इस रपट में बताया गया था :

> वहाँ के मैनहोल कामगारों को बाक़ायदा बनी सूट दिये जाते हैं ताकि दूषित पानी से उनका सम्पर्क न हो और उन्हें साँस लेने का उपकरण भी दिया जाता है। सीवर में भरपूर रौशनी होती है, जिनमें बड़े पंखों से हवा चलाई जाती है और इस वजह से उनमें कभी भी ऑक्सीजन की कमी नहीं होती। हांगकांग में, एक सीवर कामगार को पर्याप्त प्रशिक्षण के बाद कम से कम 15 लाइसेंस और परमिटों की ज़रूरत होती है, जिसके बिना वह मैनहोल में उतर नहीं सकता।

अब अगर भारत की बात करें तो यहाँ :

> मैनहोल कामगार हाफ़ पैंट या महज़ लुंगी या धोती पहन कर अंदर उतरते हैं। दिल्ली में, राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग के निर्देशों के बाद यानी अक्टूबर, 2002 के बाद दिल्ली जल बोर्ड के स्थायी कर्मचारी एक 'सेफ़्टी बेल्ट' पहन लेते हैं, जो एक मज़ाक है। यह बेल्ट, जो गटर में उतरने वाले कामगार को मोटी रस्सी के ज़रिये ऊपर खड़े आदमी से जोड़ती है, उन ज़हरीली गैसों से कोई सुरक्षा प्रदान नहीं करती और न ही उन धारदार वस्तुओं से उसे बचाता है, जिनसे मैनहोल कामगार को निपटना पड़ता है। अधिक से अधिक, वह उस कामगार को बाहर निकालने में मदद करती है, जब वह बेहोश हो जाता है या मर जाता है।

इस रिपोर्ट के आख़िरी हिस्से में इस बात पर ज़ोर दिया गया था कि समस्या फण्ड की कमी या टेक्नॉलॅजी की नहीं है। अगर उपग्रहों/ सैटेलाइटों को आसमान में छोड़ने के लिए टेक्नॉलॅजी का इस्तेमाल किया जा सकता है तो कूड़ा और गंदगी को हटाने के लिए क्यों नहीं किया जा सकता। ड्रेनेज और सीवरेज़ के लिए हज़ारों करोड़ रुपये के आवण्टन का विवरण देते हुए उसमें प्रश्न पूछा गया था कि आख़िर इतना सारा पैसा ऐसे पाइपों या नालियों को बिछाने के लिए क्यों ख़र्च होता है, जो एक तरह से लोगों को मारने के लिए बने हों?

> भारत के शहर नियोजक, डिज़ाइनर और टेक्नॉलॉजिस्टों को अभी भी कूड़ा और सीवेज के प्रबंधन की मानव अनुकूल प्रणाली गढ़ने का ख़याल तक नहीं आया। इसके बजाय, वह कभी भी ख़त्म न

होने वाले, सस्ते, दलित श्रम पर निर्भर रहते हैं।

'लगभग अदृश्य दिखने वाले सीवर कामगार' (अधिकतर किसी दलित जाति का सदस्य) और हमारे समाज के प्रबुद्ध एवं मुखर तबक़े के बीच जो अंतराल नज़र आता है और ऐसे कामगारों की पीड़ा एवं व्यथा से उनकी दूरी को हम रेडियो मिर्ची से जुड़े टेलिविज़न कमर्शियल पर उनकी प्रतिक्रिया में देख सकते हैं। इसका उल्लेख उसी आलेख में मिलता है। यह विज्ञापन दरअसल दो साल तक चलता रहा। इसकी शुरुआत एक गीत से होती है, जिसकी आवाज़ मैनहोल से आ रही है :

ये सुहाना मौसम, ये खुला आसमाँ, खो गये हम यहाँ, खो गये हम यहाँ

दर्शक देख रहे थे कि पान चबाता सफ़ारी सूट पहना आदमी बहुत उत्सुकता से देख रहा है कि मैनहोल में काम कर रहा आदमी इतना ख़ुश क्यों है कि वह गाये जा रहा है। अचानक कैमरा मैनहोल कामगार की पेंट और चप्पल की तरफ़ घूमता है, जो मैनहोल के कवर के पास रखी है और फिर टैगलाइन नमूदार हो जाती है 'मिरची सुनने वाले ... हमेशा ख़ुश।' प्रसून जोशी द्वारा कल्पित यह विज्ञापन, दर्शकों या मानवाधिकार समूहों की तरफ़ से किसी विरोध के बिना दो साल तक चलता रहा।

III

क्या हम अपने आप से पूछ सकते हैं कि आख़िर किसी ने इस विज्ञापन को लेकर विरोध क्यों नहीं किया या प्रश्न क्यों नहीं उठाया?

कल्पना करें कि अगर किसी विकसित मुल्क में किसी ख़ास नस्ल या समुदाय पर इसी तरह लांछन लगाया जा रहा हो तो क्या प्रतिक्रिया इसी क़िस्म की होती? जिस मुल्क में लगभग 22,000 लोग हर साल मरते हैं— आप चाहें तो इन आँकड़ों पर बहस कर सकते हैं— ताकि आप के सीवर जाम न हों और उनमें से अधिकतर रिटायरमेंट के पहले कालकवलित न हों हैं, और हमें इस बात का 'तसव्वुर करने' से भी कोई गुरेज़ नहीं है कि सीवर में काम करने वाला व्यक्ति अपने काम को 'एंजॉय' कर रहा है।

इस घटनाक्रम का एकमात्र सम्भव 'स्पष्टीकरण' यह हो सकता है कि जाति और उससे जुड़ा भेदभाव हमारे मानस का इस तरह हिस्सा बन चुका है कि हमें कुछ भी घृणास्पद नहीं लगता। आख़िर इस अनोखे सोपानक्रम के बारे में— जिसे व्यापक समाज की वैधता हासिल है और जिस पर धर्म ने भी अपनी मुहर लगाई है— जिसने अपने ही कहे जाने वाले लोगों को सफ़ाई, झाड़ू काम, मल उठाने जैसे 'पेशे' तक सदियों से सीमित कर रखा है, के बारे में वे लोग कैसे बोलेंगे, जो प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष उससे लाभान्वित होते रहे हैं। बाहर की दुनिया को क्या बताया जाए कि इस मुल्क की, जो 21वीं सदी में 'आर्थिक महाशक्ति' बनने का इरादा रखता है, आधे से अधिक आबादी खुले में शौच करती है और आज भी लाखों लोग मल उठाने के 'पेशे' में मुब्तिला हैं। दरअसल यहाँ कई समुदाय चिह्नित हैं जिन्हें सदियों से यह अमानवीकृत काम करने के लिए मजबूर किया जाता रहा है।

अगर हम बारीक़ी से देखें तो पता लगेगा ये लोग देश के अलग-अलग भागों में अलग-अलग नामों से जाने जाते हैं। गीता रामस्वामी अपनी किताब *इण्डिया स्टिंकिंग* (नवयान, 2007) में बताती हैं : 'दिल्ली में ये लोग भंगी, वाल्मीकि, मेहतर, चुहड़ा नाम से, तो यूपी में धानुक, तो बंगाल में हान, हादी नाम से, असम में मेहतर, भंगी नाम से, हैदाराबाद में मेहतर नाम से तो तटीय आंध्र में पाकी नाम से, तो तमिलनाडु में थोती नाम से, पंजाब में मीरा, लालबेगी, चुहड़ा, बालाशाही नाम से जाने जाते हैं।'

नाम अलग-अलग हो सकते हैं मगर उनकी नियति एक ही है : वे हिंदू सामाजिक सोपानक्रम की निचली सीढ़ियों पर स्थित हैं और अस्पृश्य हैं। ऐसी जातियों, जो अपने आप को ऊँचा समझती हैं, को पेशा चुनने की आज़ादी रहती है, जबकि आज के दलितों के लिए सबसे कम वांछनीय पेशे उपलब्ध होते हैं जैसे— मानवीय मल को उठाना, सफ़ाई, झाड़ू काम, चमड़ा काम, मृत जानवरों की

चमड़ी उतारना, मनुष्य और जानवरों की लाशों को हटाना, सूअर पालन आदि। हम सामाजिक सोपानक्रम के इस मॉडल को अन्य धार्मिक समुदायों में भी दोहराता हुआ देख सकते हैं।

कुछ साल पहले हाथ से मल उठाने की प्रथा पर पी. अमुधन नामक एक युवा निर्देशक की तीन छोटी-छोटी फ़िल्में प्रसारित हुई थीं, जिनमें से एक फ़िल्म *वंदेमातरम— ए शिट वरज़न* की पार्श्वभूमि पर ए.आर. रहमान का चर्चित गीत 'वंदे मातरम्' चलता दिख रहा था। यह फ़िल्म मदुरै में हाथ से मल उठाने वाली एक महिला की रोज़मर्रा की दिनचर्या पर केंद्रित थी। यह रिमिक्स अलबम एक तरह का सचेत प्रयास था लोगों की नकली देशभक्ति को प्रश्नांकित करने का और उस समाज के सामने प्रश्न खड़ा करने का जो जाति के आधार पर हाथ से मल उठाने जैसी घृणित प्रथाओं को आज भी चलने देता है। इस म्यूज़िकल विडियो ने उन दिनों तमिलनाडु में हंगामा खड़ा कर दिया था, और वहाँ की सरकार को स्थानीय कलेक्टर के ख़िलाफ़ कार्रवाई करनी पड़ी थी। वजह बताई गयी कि उसने इस प्रथा की अनदेखी की। दरअसल, यह अपने चेहरे को बचाने की सरकारी क़वायद थी, जो अक्सर दावे करती आयी थी कि राज्य में मल उठाने की प्रथा अस्तित्व में ही नहीं है।

जो हाल तमिलनाडु का है, वही हाल बाक़ी देश का भी है। यह प्रथा समूचे भारत में प्रचलित है, गोया इसके ज़रिये महान् कहे जाने वाले इस देश की बहुचर्चित 'विविधता में एकता' का सिद्धांत उजागर होता है। आधिकारिक आँकड़ों के हिसाब से देखें तो दुनिया में भारत खुले में शौच के मामले में अव्वल नम्बर पर है। यहाँ 60 करोड़ से अधिक लोगों के घरों में सैनिटेशन की कोई सुविधा नहीं है। वे या तो खेतों में जाते हैं या शुष्क शौचालयों का सहारा लेते हैं। सरकारी आँकड़ों के हिसाब से— सामाजिक न्याय और आधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार— भारत में 6.73 लाख लोग, जिनमें से 95 फ़ीसदी स्त्रियाँ हैं, आज की तारीख़ में हाथ से मल उठाने में लगी हुई हैं। अगर ग़ैर-सरकारी आँकड़ों को देखें तो यह संख्या 13 लाख तक पहुँचती है।

अगर पी. अमुधन ने मदुरै में हाथ से मल उठाने वाली स्त्री को 'अमर' किया, तो अग्रणी पत्रकार पी. साईंनाथ ने उसी तरह राजस्थान के जोधपुर की पतासीबाई पर अपने आप को केंद्रित किया, जो अपने सर पर दूसरों का मल उठा कर जीवनयापन कर रही थी। 'हमारे पास तो लोगों का मल उठाने के लिए कोई हाथगाड़ी तक नहीं है', ... 'बहुत बदबू आती है मगर हम और कर क्या सकते हैं', 'मुझे प्रति घर प्रति माह दस रुपये मिलते हैं, कभी-कभी घर की स्त्री बासी रोटियाँ भी पकड़ा देती हैं।' पतासीबाई जैसों की जीवन-कथा पर साईंनाथ की क़लम चली थी। बेजवाड़ा विल्सन, जो लम्बे समय से हाथ से मल उठाने में मुब्तिला लोगों को 'सफ़ाई कर्मचारी आंदोलन' के बैनर तले उनके 'पेशे' से मुक्ति दिलाने के प्रयास कर रहे हैं। गीता रामस्वामी *इण्डिया स्टिंकिंग* में लिखती हैं :

> आख़िर कीड़ों-मकोड़ों से बजबजाते, बदबू करने वाले लोगों के मल को उठाने में किसे गर्व हो सकता है? आदतन नथुनों को बंद करते हुए, इन टॉयलेटों में घुसने के पहले अपने सीने में अधिक से अधिक ताज़ी हवा भर लेने वाले, हम सफ़ाई कर्मचारी साँस एवं चमड़ी की सबसे गम्भीर क़िस्म की बीमारियों से परेशान रहते हैं ... कई लोग हमें बताते हैं कि किस तरह आठ साल या ग्यारह साल की उम्र में उन्होंने इस काम को करना शुरू किया, कितने दिनों तक ख़ाना होंठो के पास लाना उनके लिए सम्भव नहीं हुआ था; इस मल की गंध किस तरह उनके नथुनों में हमेशा जमी रहती है; और किस तरह वे उस शर्म और अपमान को उगल देने की कोशिश करते रहे।

ऐसा नहीं कहा जा सकता कि संसद के स्तर पर या कार्यपालिका के स्तर पर इस प्रथा को समाप्त करने की कोशिशें न हुई हों, मगर वे हमेशा आधे मन से चली हैं और उसमें शासकों की बेरुखी का ही प्रदर्शन हुआ है। उदाहरण के तौर पर, सरकार ने 'द एम्प्लायमेंट ऑफ़ मैन्युअल स्केवेंजर्स ऐंड कंस्ट्रक्शन ऑफ़ ड्राई लैटिरंस प्रोहिबिशन एक्ट' 1993 में बनाया मगर उसे अधिसूचित करने में ही चार साल लगा दिये। किसी भी राज्य ने उसे जारी करने को लेकर 2000 तक कोई रुचि नहीं दिखाई। और, यह क़ानून बनने के बीस साल बाद तक किसी भी सरकारी अफ़सर या किसी कम्पनी



के अधिकारी को इस मामले में दोषीसिद्ध नहीं किया गया था, न किसी को इस प्रथा को जारी रखने के लिए दण्डित किया गया था। दरअसल, देखने में तो यह आया था कि इस क़ानून की सबसे बड़ा उल्लंघनकर्ता तो सरकार ही है। पैसों की कमी का हवाला देते हुए भारतीय रेल इस क़ानून के अमल का लगातार विरोध करती आयी है।

गोया अपनी नाकामी को ही रेखांकित करने के लिए सरकार ने सितम्बर, 2013 में एक नया क़ानून बनाया 'द प्रोहिबिशन ऑफ़ एम्प्लायमेंट ऐज़ मैन्युअल स्केवेंजर्स ऐंड देअर रिहेबिलिटेशन एक्ट, 2013' और सरकार ने उसके लिए अधिसूचना भी जारी कर दी। इस बात पर ज़ोर डालना ज़रूरी है कि स्थानीय और रेलवे अधिकारियों के लिए— जो अभी भी हाथ से मल उठाने के काम में कामगारों को लगाते हैं— इसमें एक बचने का रास्ता पहले से ही दे दिया गया। यह क़ानून कामगारों को दिये जाने वाले सुरक्षा उपकरणों आदि को यांत्रिकीकरण का विकल्प मानता है, और इस अधिनियम के अंतर्गत, जो लोग केंद्र सरकार द्वारा अधिसूचित नियमों के अंतर्गत सुरक्षा उपकरणों का इस्तेमाल कर रहे हैं, वे 'हाथ से मल उठाने' की श्रेणी में नहीं गिने जाएँगे। (देखें, 'गेट सीरियस', सम्पादकीय, *द हिंदू*, 13 सितम्बर, 2013.)

VI

कुछ समय के लिए पश्चिमी अनुभव को भूल कर हम भारत में सैनिटेशन सुगमता की स्थिति उसके दक्षिण एशियाई पड़ोसियों के साथ तुलना करके देखते हैं। दिलचस्प बात यह है कि सभी दक्षिण एशियाई मुल्कों की सैनिटेशन सुगमता भारत से बेहतर है। हम विश्व स्वास्थ्य संगठन की 2013 की रिपोर्ट पलटें तो उसके मुताबिक़ पाकिस्तान, बांगलादेश और नेपाल में खुले में मल विसर्जन का प्रतिशत लगातार कम हो रहा है। वहाँ यह 25 फ़ीसदी के आसपास रह गया है।[4]

---

[4] http://www.hardnewsmedia.com/2014/10/6419#sthash.BdIfDqUN.dpuf

इसके पहले 2001 में जारी संयुक्त राष्ट्र संघ के मानव विकास रिपोर्ट में जारी आँकड़े काफ़ी कुछ बताते हैं :

मानव विकास सूचकांक		सुधरे हुए सैनिटेशन वाली आबादी (प्रतिशत)	
		1990	2000
142	पाकिस्तान	36	62
127	भारत	16	28
138	बांग्लादेश	41	48
96	श्रीलंका	85	94

हम नोट कर सकते हैं कि भारत के अलावा, बाक़ी तीनों दक्षिण एशियाई मुल्कों में जाति प्रथा की अनुपस्थिति है या उसकी मामूली उपस्थिति है। क्या हम कह सकते हैं कि भारत इस मामले में इतना फ़िसड्डी इस वजह से है क्योंकि यहाँ जाति प्रथा का वर्चस्व है?

इस प्रश्न का उत्तर तभी दिया जा सकता है जब हम भारत पर ग़ौर करें और यह समझने की कोशिश करें कि क्या सैनिटेशन सुविधाओं के प्रति सुगमता यहाँ पहले से ख़राब हुई है या बेहतर होती गयी है। मुअनजोदड़ो–हड़प्पा के उपलब्ध रेकार्ड इस मामले में शिक्षाप्रद हो सकते हैं।

विकीपीडिया के मुताबिक़ :

> उत्तर पश्चिम भारत की प्राचीन सिंधु घाटी सभ्यता, जिसमें पाकिस्तान और भारत के हिस्से को भी समाविष्ट किया जा सकता है, हाइड्रॉलिक इंजिनीयरिंग के मामले में आगे थी। वहाँ पानी की आपूर्ति और सैनिटेशन की ऐसी सुविधाएँ थीं, जो पहली बार कहीं देखने को मिलती हैं। अन्य तमाम चीज़ों के अलावा, उसमें दुनिया के पहली जानी हुई फ़्लश टॉयलेट की प्रणाली दिखती है। वह कई घरों में उपलब्ध थी, जिसे एक साझे सीवरेज पाइप से जोड़ा गया था। अधिकतर घरों में निजी कुएँ थे।[5]

अगर हम अहमदाबाद से 62 किलोमीटर दूर स्थित लोथल को देखें, जो हड़प्पा सभ्यता का हिस्सा माना जाता है, तो हम पाते हैं कि ईसा पूर्व 2500 साल पहले लोगों के घरों में पानी से जुड़े टॉयलेट मौजूद थे, जो मिट्टी की ईंटों से ढँकी नालियों से आपस में जुड़े थे। इस निकास प्रणाली में मैनहोल और चेम्बर्स थे। हम देख सकते हैं कि सिंधु घाटी सभ्यता के अवसान के साथ सैनिटेरी इंजीनियरिंग के विज्ञान को झटका लगा।

बाद के धार्मिक ग्रंथों में— जैसे नारद् संहिता या वाजनेयी संहिता में हम गुलामों के कर्तव्य के तौर पर इस बात का साफ़ उल्लेख देखते हैं कि उनका काम 'मानवीय मल का निपटारा' करना था। ह्वेनसांग, चीनी बौद्ध विद्वान् ने ईस्वी 630 से 645 के दरमियान भारत के विभिन्न स्थानों की यात्रा करते हुए जाति विभाजित समाज का उल्लेख किया है। उन्होंने यह भी बताया है कि उस समय 'अछूतों' की अवधारणा अस्तित्व में थी। चाण्डालों या शूद्रों को गाँवों के बाहर रहना पड़ता था। दरअसल, अस्पृश्यता का उदय— जिसका कालखण्ड डॉ. आम्बेडकर के मुताबिक़ ईसवी 400 है— की वजह से सैनिटरी इंजीनियरिंग को मिले झटके की पुनर्समीक्षा करने की ज़रूरत पड़ी, क्योंकि

---

[5] http://en.wikipedia.org/wiki/Sanitation_of_the_Indus_Valley_Civilization

मानवीय मल के निपटारे के लिए लोगों का एक हिस्सा मौजूद था। और आज, हम ख़ुद देख सकते हैं कि मल और हिंदू समाज की 'प्रदूषण' की धारणा के बीच का समीकरण एक तरह से सीवरेज़ की आपराधिक उपेक्षा में परिणत हुआ है :

इण्डिया स्टिंकिंग के पृ. 14 पर गीता रामस्वामी कहती हैं :

> पश्चिमी दुनिया के बड़े हिस्से में, मानवीय मल और रोग के बीच का रिश्ता स्थापित है। ढेर सारे संक्रामक रोगों के प्रसार में मानवीय मल को प्रधान कारक समझा जाता है ... भारत में, मल को अशुद्ध समझा जाता है ... पारम्पारिक प्रथाएँ मल के वैज्ञानिक निपटारे के साथ सामंजस्य नहीं रख पाई हैं, जिसका परिणाम विचित्र प्रणालियों में हुआ है, ख़ास कर हमारे बाद किसी के सफ़ाई के लिए तैनात होने के रूप में।
>
> मल से दूरी को एक तरह आवश्यक कर्म समझा जाता है : मल विसर्जन के बाद नहाया जाता है... वर्ण हिंदू समाज ने इस बात की कभी परवाह नहीं की कि सार्वजनिक स्थानों पर मल पड़ा है मगर इस बात पर अवश्य ज़ोर दिया कि घर के अंदर का भाग ऐसी गंदगी से मुक्त होना चाहिए।
>
> एक नैमित्तिक कर्म के तौर पर मल से दूरी और यह हक़ीक़त कि मल से दूरी बनाए नहीं रखी जा सकती, इसका समाधान वर्ण हिंदू समाज ने, 'प्रदूषित' जातियों में ढूँढ लिया है जो हाथ से मल उठाती हैं। मल उठाना और जाति का प्रश्न इस तरह आपस में गूँथ दिया गया है।

V

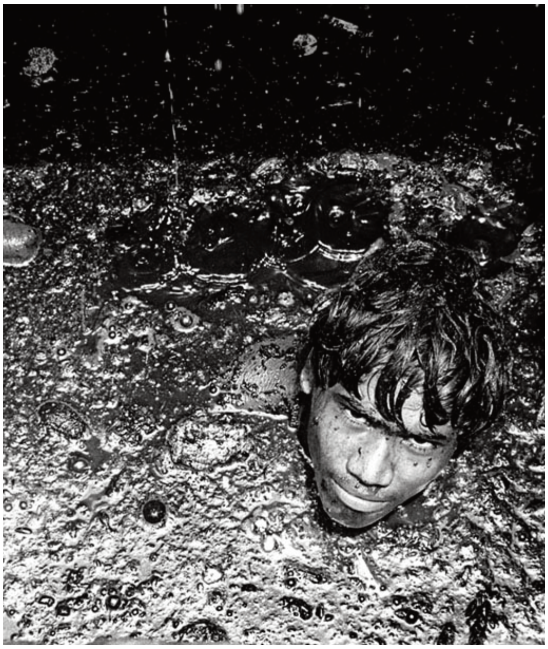
झाड़ू का महिमामण्डन, जब उसे छोड़ने की आवाज़ बुलंद हो रही है!

ऐसा प्रतीत हो सकता है कि जो कुछ चल रहा है उसके प्रति दलित समुदाय की तरफ़ से कोई प्रतिरोध नहीं है। सच्चाई इससे बिल्कुल अलग है।

उलटे हम यह देख सकते हैं कि समुदाय के अंदर पुराने 'पेशे' को चुनौती देने वाली आवाज़ें बुलंद हो रही हैं और समुदाय का युवा तबक़ा झाड़ू और मानवीय गंदगी में लिप्त पीढ़ी-दर-पीढ़ी ज़िंदगी से बाहर आने की कोशिश में है। सफ़ाई कर्मचारी आंदोलन जैसे संगठनों तथा कई स्थानों पर अलग-अलग लोगों ने शुष्क शौचालय को तोड़ने की मुहिम हाथ में लिए हुए हैं। ऐसे कई अवसर देखे जा सकते हैं जब लोग सामूहिक तौर पर आगे आये हैं और उन्होंने सफ़ाई काम में प्रयुक्त झाड़ू और टोकरी को आग के हवाले किया है। ऐसे संगठनों, व्यक्तियों, समुदाय आधारित संगठनों या एनजीओ के अनुभवों पर हम ग़ौर कर सकते हैं जो

1. हाथ से मल उठाने की प्रथा की व्यापकता को सामने ला रहे हैं।
2. शुष्क शौचालयों के ध्वंस और हाथ से मल उठाने में लगे लोगों के पुनर्वास में लगे हैं।
3. जो हुक़्मरानों की जातिवादी मानसिकता की आलोचना करते हैं और उसे बेपर्द करते हैं क्योंकि करोड़ों रुपये मल उठाने में लगे लोगों के पुनर्वास के लिए आवंटित किया जा रहा है, मगर उसका बहुलांश बिना ख़र्च पड़ा रहता है। मिसाल के तौर पर ? 2012-12 में भारत सरकार ने समूचे वित्त वर्ष में 100 करोड़ रुपया इसके लिए आवंटित किया था, मगर उस पूरे वित्तीय वर्ष में उसमें से एक रुपया भी खर्च नहीं हुआ। और इसके लिए किसी को ज़िम्मेदार तक नहीं ठहराया गया।
4. हाथ से मल उठाने की प्रथा पर प्रतिबंध लगाने और लोगों के पुनर्वास के लिए न्यायपालिका का सहारा लेना।

'अस्वच्छ पेशे' को छोड़ने की उनकी माँग, जिसने सदियों से उन्हें लांछन की ज़िंदगी जीने के लिए मजबूर किया है या इस समुदाय में उठ रही 'झाड़ू छोड़ो, क़लम उठाओ' जैसी आवाज़ों के उद्‌गम के तौर पर हम डॉ. आम्बेडकर के 1927 के ऐतिहासिक सत्याग्रह को याद कर सकते हैं, जब महाड़ के चवदार तालाब पर दलितों और उनके समानधर्मा लोगों ने सत्याग्रह किया था और उसका पानी पिया था। उन्होंने उन वर्ण-वर्चस्ववादी लोगों को चुनौती दी थी जिनका ऐलान था कि दलित



उस पानी को छू तक नहीं सकते हैं। उसके बाद हुए सम्मेलन में डॉ. आम्बेडकर के आह्वान पर लोगों ने संकल्प लिया था कि 'आइंदा कोई दलित हिंदुओं के मरे जानवर का चमड़ा नहीं उतारेगा, या उसे उठाएगा नहीं या उसका मांस नहीं खाएगा।'

और अगर हम समुदाय के अंदर उठ रही इन प्रतिरोध की आवाज़ों को, जो इस 'पेशे' से मुक्ति चाहती हैं, के बरअक्स उन आवाज़ों को देखें जो 'स्वच्छ भारत अभियान' के नाम पर पैदा की जा रही हैं— तो हम देख सकते हैं कि यह एक तरह से झाड़ू को फिर से लोकप्रिय बनाने का बल्कि उसके इर्द-गिर्द ग्लैमर पैदा करने का प्रयास चल रहा है। यह एक अप्रत्यक्ष तरीक़ा है प्रतिरोध की आवाज़ों को कुंद करने का। गाँधी के नक़्शेक़दम पर चलने की अपनी जल्दबाज़ी में जनाब मोदी ने अपनी मुहिम उसी बाल्मीकि बस्ती से शुरू की जहाँ पर गाँधी कुछ समय के लिए रहे थे। उन्होंने इस बात की चिंता नहीं की कि ऐसा क़दम उस समुदाय पर पहले से चिपके लेबिल को नयी मज़बूती देगा। वैसे मीडिया ने इस पर सवाल नहीं उठाया, मगर जो लोग इस मुल्क की भगवा राजनीति के अध्येता हैं, उन्हें कोई आश्चर्य नहीं हुआ क्योंकि वे जानते थे कि इस 'पेशे' को लेकर मोदी के क्या विचार हैं। मोदी के विचार उनकी किताब *कर्मयोग* में दर्ज हैं जिसमें वे सफ़ाई मज़दूरों के काम की तुलना 'आध्यात्मिक अनुभव' से करते हैं:

> मैं नहीं मानता कि वे (सफ़ाई कामगार) इस काम को महज जीवनयापन के लिए कर रहे हैं। अगर ऐसा होता तो उन्होंने पीढ़ी-दर-पीढ़ी इस काम को नहीं किया होता। किसी वक़्त उन्हें यह प्रबोधन हुआ होगा कि वाल्मीकि समुदाय का काम है कि समूचे समाज को ख़ुशी के लिए काम करना, इस काम को उन्हें भगवान ने सौंपा है, और सफ़ाई का यह काम आंतरिक आध्यात्मिक गतिविधि के तौर पर जारी रखना चाहिए। इस पर यक़ीन नहीं किया जा सकता कि उनके पूर्वजों के पास अन्य कोई उद्यम करने का विकल्प नहीं रहा होगा। (पृ. 48-49)

इस किताब का प्रकाशन 2007 में हुआ था, जिसमें आईएएस अधिकारियों के चिंतन शिविरों में मोदी द्वारा दिये गये व्याख्यानों को संकलित किया गया है। गुजरात स्टेट पेट्रोलियम कॉरपोरेशन जैसे अग्रणी सार्वजनिक प्रतिष्ठान के सहयोग से इसकी पाँच हज़ार प्रतियाँ छापी गयी थीं। गुजरात के वरिष्ठ पत्रकार राजीव शाह के चलते ही इस बात का खुलासा हुआ था।[6]

जाति प्रथा एवं वर्णाश्रम की अमानवीयता को औचित्य प्रदान करने वाला उपरोक्त संविधान द्रोही वक्तव्य *टाइम्स ऑफ़ इण्डिया* में नवम्बर, 2007 में प्रकाशित भी हुआ था। आप इसे गुजरात के दलितों के एक हिस्से के हिंदुत्वकरण का परिणाम कहें या जनतांत्रिक आंदोलन के कमज़ोर होने का

---

[6]http://blogs.timessofindia.indiatimes.com/true-lies/entry/modi-s-spiritual-potion-to-woo-kar-mayogis

लक्षण कहें कि गुजरात में इस विवादित वक्तव्य पर कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई, मगर जब तमिलनाडु में यह समाचार छपा तो वहाँ दलितों ने इस बात के ख़िलाफ़ उग्र प्रदर्शन किये जिसमें मैला ढोने को 'आध्यात्मिक अनुभव' की संज्ञा दी गयी थी। उन्होंने जगह-जगह मोदी के पुतलों का दहन किया। अपनी वर्ण-मानसिकता के उजागर होने के ख़तरे को देखते हुए जनाब मोदी ने इस किताब की पाँच हज़ार कापियाँ बाज़ार से वापस मँगवा लीं, मगर अपनी राय नहीं बदली। 2009 में सफ़ाई कर्मचारियों की एक सभा को सम्बोधित करते हुए उन्होंने उनके काम को मंदिर के पुरोहित के काम के समकक्ष रखा था। उन्होंने कहा : जिस तरह पूजा के पहले पुजारी मंदिर को साफ़ करता है, आप भी मंदिर की ही तरह शहर को साफ़ करते हैं।

जब मैं *कर्मयोग* के पन्नों को पलट रहा था तो मैंने पाया कि उसमें अभिव्यक्ति विचार और आज़ादी के बाद हाथ से मल उठाने में लगे लोगों की समस्याओं पर ग़ौर करने के लिए बनी बर्वे कमेटी, 1949 या उसके बाद बनी मलकानी कमेटी, 1956 के विचारों में बहुत समानता है। बर्वे कमेटी ने यह आपत्तिजनक सुझाव भी रखा था कि स्वच्छकार लोग अपने काम को गंदा नहीं समझते। उसने पीड़ितों को ही दोषी ठहराया था :

> इन भंगियों के पुरखे निम्न जाति से जुड़े श्रमिक थे, मगर उन्होंने कभी भी मल उठाने का काम नहीं किया था। इनमें से कुछ लोगों ने पाख़ाने साफ़ करने का काम लाभ/मुनाफ़ा कमाने के मक़सद से शुरू किया। धीरे-धीरे इस पर उनका एकाधिकार हो गया। एक ऐसा मुक़ाम भी आया जब भंगी अपने इस वर्चस्व को अपने फ़ायदे के लिए इस्तेमाल करना चाह रहे थे और इस तरह इस पर उनका पारम्परिक अधिकार स्थापित हो गया। आदत के चलते उसने अपने स्वाभिमान को इस क़दर खोया कि संडास साफ़ करने जैसे गंदे काम से बाहर आने का विचार भी उसने त्याग दिया।

अब जहाँ तक मलकानी कमेटी का सवाल है तो 'स्वच्छकारों के पारम्परिक अधिकारों' के बारे में उसका यह कहना था :

> मल उठाना परिवार की ज़िंदगी का तरीक़ा है। शिक्षा की कमी और रोज़गार के अन्य अवसरों की ग़ैरमौजूदगी के चलते एक तरह का नियतिवादी रुझान लोगों में व्याप्त रहता है।

अब अगर हम मोदी द्वारा 'गटर सफ़ाई के आध्यात्मिक अनुभव' की बात की तरफ़ लौटें तो यह कह सकते हैं कि यह उनके लिए काफ़ी शिक्षाप्रद होता कि वह आम्बेडकर की उस प्रतिक्रिया से अवगत होते जिसका इजहार उन्होंने गाँधी के उस वक्तव्य पर दिया था जब उन्होंने *नवजीवन* के अंक में 'सफ़ाई काम को समाज का सबसे उदात्त काम कहा था' और यह भी रेखांकित किया था कि 'स्वच्छता का यह काम कितना पवित्र है।'[7]

> यह उपदेश देना कि दरिद्रता शूद्रों के लिए ठीक है और अन्य किसी के लिए नहीं, यह प्रवचन देना कि मल उठाना अछूत के लिए अच्छा है और अन्य किसी के लिए नहीं और इस कठिन आरोपणों को जीवन के स्वैच्छिक उद्देश्य के तौर पर लेना, और उनकी कमज़ोरियों को देखते हुए ऐसी अपील करना, एक तरह का इन असहाय तबक़ों पर किया जा रहा क्रूर मज़ाक है जिसे महज़ मि. गाँधी ही नि:संकोच अंज़ाम दे सकते हैं। इस संबंध में वाल्तेयर के शब्दों को याद कर सकते हैं 'ओह, यह कहना कि लोगों की पीड़ा और परेशानी कुछ अन्य के लिए ख़ुशी लाती है और समग्र की भलाई करती है, यह एक क्रूर मज़ाक है। मरने के क़रीब पहुँचे व्यक्ति को यह कह कर क्या फ़ायदा कि उसके सड़ते शरीर से हज़ारों कीड़े जन्म लेंगे।[8]

---

[7] देखें, *नवजीवन*, 8 जनवरी, 1925

[8] डॉ. बाबासाहेब आम्बेडकर, 'व्हाट कांग्रेस ऐंड गाँधी हैव डन टू अनटचेबिल्स', *राइटिंग्ज़ ऐंड स्पीचेज़*, खण्ड 9, महाराष्ट्र सरकार, 1990 : 290-93.

जातिगत विषमताओं पर परदा डालने में, उन्हें महिमामण्डित करने या जाति की दीवारों को मज़बूती दिलाने में महज मि. मोदी की आवाज़ अकेली नहीं है। मुख्यधारा की पार्टियों के अधिकतर नेताओं के विचार उसी क़िस्म के नज़र आते हैं। उदाहरण के तौर पर कुछ साल पहले हरियाणा में सत्तासीन कांग्रेस की हुड्डा सरकार ने एक सरकारी विज्ञप्ति निकाली थी 'दलितों के लिए स्वर्णिम अवसर, सफ़ाई कर्मचारियों के ग्यारह हज़ार पद ख़ाली, जिस पर अनुसूचित जातियों से ही भरती होगी।' ख़ुद को आम्बेडकर की राजनीति की वाहक होने का दावा करने वाली मायावती करनाल की अपनी जनसभा में उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री होने के नाते अपने एक 'ऐतिहासिक निर्णय' से जनता को अवगत कराते हुए बताया था कि उनकी सरकार ने 'ग्रामीण इलाक़े में सफ़ाई कर्मचारी के लिए एक लाख पोस्ट आरक्षित किये हैं, जो आमतौर पर अनुसूचित जातियों के लिए और ख़ासकर वाल्मीकियों के लिए आरक्षित हैं।' शुद्धता और प्रदूषण को लेकर व्याप्त धारणाओं के अलावा एक अतिरिक्त जटिलता इस वजह से भी उभरती है कि किस तरह अलग-अलग धार्मिक समुदायों में मल विसर्जन के अलग-अलग रूप दिखाई देते हैं। उदाहरण के तौर पर मिहिर शर्मा की किताब (जिसका उल्लेख कांति बाजपेयी के *टाइम्स ऑफ़ इण्डिया* के लेख 'एट यूअर कनवीनियेंस' में मिलता है) *रिस्टार्ट : द लास्ट चांस फॉर इण्डियन इकॉनॉमी* बताती है कि ग्रामीण हिस्से में रहने वाले अस्सी फ़ीसदी हिंदू जहाँ खुले में मल विसर्जन करते हैं, वहीं मुसलमानों में यह अनुपात 50 फ़ीसदी है। लगभग 40 फ़ीसदी हिंदू जिन्हें 'कामकाजी सरकारी संडास' की सुविधा उपलब्ध है, उसका इस्तेमाल नहीं करते हैं, जबकि मुसलमानों में यह अनुपात महज सात फ़ीसदी है, जो सुविधा होने के बावजूद खुले में मल विसर्जन करते हैं।

दिलचस्प बात है कि यह अपने प्रकार का पहला अध्ययन नहीं है जो इन दोनों समुदायों के बीच अंतर उजागर करता है। माइकेल गेरूसो और डीन स्पीअर्स अपने पर्चे में 'सैनिटेशन ऐंड हेल्थ एक्स्टरनलिटीज़ : रिज़ाल्विंग द मुसलिम मॉर्टलिटी पैराडॉक्स?' इसी तथ्य को रेखांकित करते हैं :

> खुले में मल विसर्जन की व्यापकता भारत की हिंदू बहुसंख्या में दिखाई देती है। नेशनल हेल्थ ऐंड फैमिली सर्वे ऑफ़ इण्डिया के ताजे आँकड़ों के मुताबिक़ इसवीं 2005 तक, लगभग 67 फ़ीसदी हिंदू परिवार खुले में मल-विसर्जन करते थे, उदाहरण के तौर पर खेतों में, सड़कों के पास, झाड़ियों के पीछे। इसकी तुलना में, सापेक्षतः ग़रीब तबक़े के मुसलिम घरों के महज 42 फ़ीसदी लोग बाहर मल-विसर्जन करने जाते रहे। रामस्वामी (2005) और बथरन (2011) दोनों हिंदुओं में खुले में मल विसर्जन के आधुनिक दौर में भी टिके रहने को हिंदू जाति प्रथा का असर मानते हैं : मल-विसर्जन को घर के बाहर रख कर मल से कर्मकाण्डीय दूरी बनाई रखी जाती है, बल्कि इसके साथ ही उसकी सफ़ाई के काम को दलितों को सौंप कर इसे अंजाम दिया जाता है।[9]

हार्डन्यूज़ पत्रिका के अक्टूबर अंक में [10] लिली टेकसेंग के 'ओ शीट' लेख में बताया गया था कि रिपोर्टों के हिसाब से हर रोज़ भारत में पाँच साल से कम उम्र के 1600 बच्चों की मौत होती है। यह संख्या दुनिया में सबसे अधिक है। इसे 'एशियाई पहेली' के तौर पर सम्बोधित किया जाता है, अर्थात् जहाँ सापेक्षतः बेहतर आर्थिक समृद्धि और बाल पोषण को प्रभावित करने वाले कारकों में हुई बेहतर प्रगति के बावजूद दक्षिण एशिया के बच्चों के पोषण की स्थिति सबसहारन अफ्रीका के बच्चों से बुरी है। लेख के मुताबिक़ कुछ ने इस एशियाई पहेली की जड़ों को स्त्रियों की स्थिति और निरक्षरता आदि से जोड़ने की कोशिश की है। मगर हालिया अध्ययन के मुताबिक़ इसका सीधा संबंध खुले में शौच से है। अध्ययन के मुताबिक़ खुले में शौच और बच्चों की कम उँचाई और आंत्र की समस्याओं के बीच सीधा रिश्ता है।

---

[9] July 2014, https://laits.utexas.edu/~mlg2296/images/MuslimSanitation.pdf

[10] http://www.hardnewsmedia.com/2014/10/6419/

VI



वैसे जनाब मोदी के प्रधानमंत्री पद के अंतर्गत स्वच्छ भारत अभियान की पैकेजिंग और प्रस्तुति में जाति के विमर्श पर बरते गये 'मौन' या उसके साफ़सुथराकरण को देखते हुए बरबस सूबा गुजरात में अस्पृश्यता की मौजूदगी और कुछ समय पहले उसके अदृश्य किये जाने का प्रसंग बरबस याद आता है। हम जानते हैं कि मोदी 2001 से 2014 तक गुजरात के मुख्यमंत्री रह चुके हैं।

इसकी पुष्टि करनी हो तो आप गुजरात सरकार द्वारा प्रायोजित रिपोर्ट 'इम्पेक्ट ऑफ़ कास्ट डिस्क्रिमिनेशन ऐंड डिस्टिंक्शंस ऑन ईक्वल आपर्चुनिटीज़' को देख सकते हैं जिसे सीईपीटी (सेंटर फॉर एनवायरनमेंट प्लानिंग ऐंड टेक्नोलॅजी) युनिवर्सिटी से जुड़े प्रोफ़ेसर आर. पार्थसारथी की अगुआई में तैयार किया गया है। अपने ब्लॉग 'टू लाईज़' में वरिष्ठ पत्रकार राजीव शाह ने इस अध्ययन की विस्तृत आलोचना कुछ समय पहले पेश की थी। निचोड़ के तौर पर बता दें कि यह रिपोर्ट नवसर्जन नामक संस्था द्वारा गुजरात के लगभग 1600 गाँवों में अस्पृश्यता की मौजूदगी को लेकर किये गये अध्ययन 'अण्डरस्टैण्डिंग अनटचेबिलिटी' पर सामने आयी सरकारी प्रतिक्रिया है।

आख़िर नवसर्जन की रिपोर्ट में ऐसी क्या बात सामने आयी थी जिसने सरकार को सफ़ाई देने के लिए मजबूर किया था।

मंदिर प्रवेश से लेकर साझे जलाशयों के इस्तेमाल आदि तमाम बिंदुओं को लेकर दलितों एवं वर्ण जातियों के बीच अंतर्क्रिया की स्थिति को नापते हुए यह रिपोर्ट इस विचलित करने वाले तथ्य को उजागर करती है कि सर्वेक्षित गाँवों में से 98 फ़ीसदी गाँवों में उन्हें अस्पृश्यता देखने को मिली है। ग़ौरतलब था कि 2009 में प्रकाशित नवसर्जन की उपरोक्त रिपोर्ट पर मुख्यधारा की मीडिया में काफ़ी चर्चा हुई और विश्लेषकों ने स्पंदित या वायब्रेंट कहे जाने वाले गुजरात की असलियत पर सवाल उठाए। वैसे यह कोई पहला मौक़ा नहीं था जब यह सच्चाई सामने आयी थी और यह अपेक्षा की जा रही थी कि सरकार इसके निष्कर्षों पर ग़ौर करेगी और अनुरूप क़दम उठाएगी। मगर हम देख सकते हैं कि ऐसा कुछ नहीं हुआ।

इसी को मद्देनज़र रखते हुए कि यह रिपोर्ट 'समरस' के तौर पर पेश किये जाने वाले गुजरात की छवि को पंक्चर करती दिख रही थी, मोदी सरकार ने आनन-फ़ानन में सीईपीटी विश्वविद्यालय के विद्वानों को नवसर्जन की उपरोक्त रिपोर्ट की पड़ताल एवं समीक्षा करने के लिए कहा। दरअसल सरकार ख़ुद को क्लीन चिट देने के लिए इतनी उतावली थी कि उसने इस प्रायोजित अध्ययन के अलावा एक दूसरा तरीक़ा भी अपनाया। उसने सामाजिक न्याय मंत्री फ़क़ीरभाई वाघेला की अध्यक्षता में विभिन्न संबंधित विभागों के सचिवों की एक टीम का गठन किया जिसे यह ज़िम्मा सौंपा गया कि वह रिपोर्ट के निष्कर्षों को ख़ारिज कर दे। इस उच्चस्तरीय कमेटी ने अपने मातहत अधिकारियों को आदेश दिया कि वह गाँव के अनुसूचित जाति के लोगों से यह शपथपत्र लिखवा ले कि उनके गाँव में 'अस्पृश्यता' नहीं है।

> *टाइम्स ऑफ़ इण्डिया* तथा अन्य अग्रणी अख़बारों से लम्बे समय तक सम्बद्ध रहे वरिष्ठ पत्रकार राजीव शाह अपने ब्लॉग में लिखते हैं कि सरकार द्वारा प्रायोजित यह तीन सौ पेज की रिपोर्ट 'अण्डरस्टेण्डिंग अनटचेबिलिटी की समीक्षा नहीं करती है बल्कि इस व्यवहार को औचित्य प्रदान करती दिखती है। 'नवसर्जन द्वारा किये गये 1,589 गाँवों के अध्ययन के बरअक्स सीईपीटी की रिपोर्ट महज पाँच गाँवों को कवर करती है और इन गाँवों का विस्तृत सामाजिक-आर्थिक आँकड़े इकट्ठा करती है। पूरी रिपोर्ट में कहीं भी अस्पृश्यता शब्द का ज़िक्र नहीं है, हाँ जातिगत भेदभाव का अवश्य ज़िक्र है।

प्रख्यात समाजशास्त्री घनश्याम शाह भी सीईपीटी की रिपोर्ट की समीक्षा करते हुए इसी क़िस्म के निष्कर्ष तक पहुँचते हैं [11] और कहते हैं कि कितने 'हलके' तरीक़े से सरकार ने भेदभाव की समस्या की पड़ताल की है। वे बताते हैं कि 'न केवल विद्वज्जन बल्कि सरकार भी यही सोचती है कि अगर उत्सव में या गाँव की दावत में दलितों को अपने बरतन लाने पड़ते हैं या सबसे आख़िर में खाने के लिए कहा जाता है, तो इसमें कुछ गड़बड़ नहीं है।'

विडम्बना यही कही जाएगी कि जिन अग्रणी विद्वानों ने सरकार द्वारा प्रायोजित इस अध्ययन रिपोर्ट को तैयार किया, वे जातिगत भेदभाव (संविधान की धारा 15) और अस्पृश्यता (धारा 17) के बीच का अंतर भी नहीं समझते थे या समझना नहीं चाहते थे, क्योंकि उन्होंने अपने आप को सामाजिक-आर्थिक सर्वेक्षण तक सीमित रखा और यही संकेत दिया कि एक अलग क़िस्म के रंगभेद की तरह समझी जाने वाली अस्पृश्यता की कड़वी हक़ीक़त, जिससे लाखों लोगों का हर पल साबिका होता है, के बारे में वे ख़ामोश रहना चाहते हैं।

एक अन्य विचलित करने वाला तथ्य है कि सरकारी रिपोर्ट वर्णाश्रम में सबसे निचले पायदान पर समझे जाने वाले वाल्मीकियों की स्थिति पर सिर्फ़ मौन ही नहीं रहती, बल्कि उनका उल्लेख तक नहीं करती। उनका समूचा फ़ोकस बुनकरों पर है— जो सामाजिक तौर पर अधिक 'स्वीकार्य' कहे जाने वाला दलित समुदाय हैं। निश्चित ही वाल्मीकियों का अनुल्लेख कोई मानवीय भूल नहीं है। उनके विशाल हिस्से का आज भी नारकीय कहे जाने वाले कामों में लिप्त रहना, जहाँ उन्हें आये दिन अपमान एवं कभी-कभी 'दुर्घटनाओं' में मौत का सामना करना पड़ता है, यह ऐसी कड़वी सच्चाई है, जिससे इनकार नहीं किया जा सकता। वैसे यह कोई पहली दफ़ा नहीं है कि सरकार ने उनके वजूद से ही इंकार किया हो। तथ्य बताते हैं कि 2003 में गुजरात सरकार ने सुप्रीम कोर्ट में यह शपथ-पत्र दाख़िल किया था कि उनके राज्य में हाथ से मल उठाने की प्रथा नहीं है, जबकि कई अन्य रिपोर्टों एवं इस मसले पर तैयार डॉक्युमेंटरीज़ में उसकी मौजूदगी को दिखाया गया है। 2007 में जब टाटा इंस्टिटयूट ऑफ़ सोशल साइंसेज़ ने अपने अध्ययन में उजागर किया कि इस राज्य में 92,000 लोग हाथ से मल उठाते हैं, तब भी राज्य का यही रुख था।

---

[11] डब्ल्यू.डब्ल्यू.डब्ल्यू काउंटरव्यू.डाट.आर्ग, 13 नवम्बर, 2013

VII

स्वच्छ भारत अभियान की चर्चा करते हुए गुजरात के पर्यावरण कार्यकर्ता रोहित प्रजापति ने अपने आलेख में बिल्कुल अलग मुद्दा उठाया है। उनके लेख के मुताबिक़ 'जनाब मोदी भले स्वच्छ भारत की बात करते हों, मगर गुजरात के मुख्यमंत्री होने के नाते कूड़ा प्रबंधन और प्रदूषण को नियंत्रित करने का 'उनका रेकार्ड गंदा' है।[12] वे चर्चा करते हैं कि किस तरह गुजरात में उन्होंने 2007 में 'निर्मल गुजरात' नाम से मुहिम शुरू की थी और उसका नतीजा क्या निकला। उनके मुताबिक़ 'इस मुहिम के दौरान भी मोदी ने बड़े दावे किये, मगर उसकी सच्चाई अहमदाबाद के ग़ैरक़ानूनी डम्पिंग साइट— जिसे ग्यासपुर-पिराना डम्पिंग साइट कहा जाता है— पर उजागर होती है, जहाँ मुख्य सड़क के निकट साबरमती नदी के किनारे कूड़े का एक पहाड़ खड़ा हुआ है।'

इस आलेख में भारत के योजना आयोग द्वारा तैयार की गयी 'रिपोर्ट ऑफ़ द टास्क फोर्स ऑन वेस्ट टू एनर्जी', 12 मई, 2014 में उल्लिखित बुनियादी तथ्यों की भी चर्चा की गयी है :

> 2012 की केंद्रीय प्रदूषण नियंत्रण ब्यूरो की रिपोर्ट के मुताबिक़ भारत के 13 म्युनिसिपल इलाक़े हर रोज 1,33,760 टन म्युनिसिपल सॉलिड वेस्ट/अपशिष्ट/गंदगी पैदा करते हैं जिनमें से महज 91,152 टन प्रतिदिन इकट्ठा हो पाती है और उसमें से 25,884 टन का ट्रीटमेंट होता है' ... 'इसके अलावा हर साल 62 मिलियन टन म्युनिसिपल सॉलिड गंदगी को बिना ट्रीटमेंट के डम्प किया जाता है, जिसके लिए प्रति वर्ष 1240 हेक्टेयर ज़मीन की ज़रूरत लैण्डफ़िल के तौर पर पड़ेगी। अगर हम 2031 तक अनुमानित की जा रही 16 करोड़ 50 लाख टन गंदगी को देखें तो आने वाले बीस सालों में हम 66 हज़ार हेक्टेयर क़ीमती ज़मीन इसके लिए आवंटित करनी पड़ेगी जो हमारे लिए सम्भव नहीं है।

यहाँ रोहित प्रजापति के आलेख के एक हिस्से को उद्धृत करना समीचीन होगा :

> जनाब मोदी, चीज़ें उतनी सरल नहीं हैं जैसा कि आप सोचते हैं। यह अपशिष्ट/गंदगी/वेस्ट के पैदा होने के जो आँकड़े पेश किये जा रहे हैं वे भारत की 31.5 फ़ीसदी आबादी तक ही संबंधित हैं। अगर हम समूचे भारत में पैदा हो रहे अपशिष्ट को देखें तो आँकड़े और प्रचण्ड जान पड़ेंगे। योजना आयोग, जिसे मि. मोदी समाप्त करना चाहते हैं, की रिपोर्ट आगे बताती है 'म्युनिसिपल सॉलिड वेस्ट को लेकर 2000 में बने नियमों पर राज्यों द्वारा किये गये अमल की स्थिति पर किया गया अध्ययन देश के क्लास-1 में शुमार किये जाने वाले शहरों पर केंद्रित रहा। उसमें पता चला कि 128 शहरों की सड़कों पर झाड़ू चलाने और यातायात के अलावा बाक़ी मामलों में इन नियमों का पालन पचास फ़ीसदी से भी कम हो रहा है और जहाँ तक गंदगी की निकासी का सवाल है तो उसका प्रतिशत 1.4 फ़ीसदी से भी कम है। आख़िर 'म्युनिसिपल सॉलिड वेस्ट/ मेनेजमेण्ड ऐंड हैण्डलिंग/ रूल्स 2000 पर अमल करने तथा अपशिष्ट को कम करने के लिए नीति निर्धारण में सरकार की प्रमुख भूमिका क्या है? अब जहाँ तक गुजरात का सवाल है तो उसमें नियमों के अमल को लेकर आप का रेकार्ड सबसे ख़राब रहा है।
>
> प्रदूषण प्रभावित लोगों, जनसंगठनों और एनजीओ द्वारा भारत के औद्योगिक इलाक़ों में बढ़ते प्रदूषण के स्तर की निगरानी को लेकर जो काम लगातार किया गया, उसके चलते केंद्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड और राज्य प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड को 1989 में गम्भीर रूप से प्रदूषित इलाक़ों के सूचकांकन/इण्डेक्सिंग/ की प्रक्रिया शुरू करनी पड़ी। उस वक़्त 24

---

[12] http://sacw.net/article9679.html

औद्योगिक इलाक़े, जिनमें वापी, अंकलेश्वर, लुधियाना शामिल थे, उन्हें 'गम्भीर रूप से प्रदूषित' घोषित किया गया। 2009 में केंद्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड और आईआईटी दिल्ली ने पर्यावरण के मुद्दों पर सक्रिय जन-संगठनों की माँग के अनुरूप इन इलाक़ों के 'प्रदूषण' स्तर के सूचकांकन/इण्डेक्सिग के लिए नयी पद्धति का इस्तेमाल करना तय किया, जिसे 'कॉम्प्रिहेंसिव एनवायरनमेंटल पोल्युशन इण्डेक्स' (सीईपीआई) कहा जाता है। सीईपीआई में इलाक़े के लोगों के लिए हवा, पानी, ज़मीन प्रदूषण और अन्य स्वास्थ्य ख़तरों को आकलन भी शामिल रहता है। हालाँकि हमारी माँग रही है कि उसमें कामगार का स्वास्थ्य, ज़मीन की उत्पादकता और अन्न/कृषि उत्पाद की गुणवत्ता को भी शामिल किया जाए, क्योंकि अनाज उत्पादों में रसायनों और भारी धातुओं की अधिक मात्रा के प्रयोग से स्वास्थ्य को लेकर गम्भीर परिणाम होते हैं। इसका असर औद्योगिक इलाक़े के इर्द-गिर्द रहने वाले लोगों पर ही नहीं बल्कि उसका उपभोग करने वाले सभी पर होता है— और जो विशिष्ट औद्योगिक इलाक़े तक सीमित नहीं रहता।

2009 में 88 औद्योगिक संकुलों/क्लस्टर्स की सीईपीआई का मापन किया गया था और तभी केंद्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड और पर्यावरण और वन मंत्रालय भारत सरकार को इनमें से 43 संकुलों को 'अत्यधिक प्रदूषित क्लस्टर्स' कहने के लिए और अन्य 32 औद्योगिक संकुलों को 'गम्भीर रूप से प्रदूषित' घोषित करने के लिए मजबूर हुई। इस अध्ययन के बाद मंत्रालय को 13 जनवरी, 2010 को इन 43 'अत्यधिक प्रदूषित क्लस्टर्स' में नये उद्योगों के खुलने या अस्तित्वमान उद्योगों की क्षमता पर प्रतिबंध लगाने की घोषणा करनी पड़ी। बोर्ड द्वारा वर्ष 2011 तथा 2013 में इसी क़िस्म की रिपोर्टें जारी की गयीं, मगर पिछली सरकार और वर्तमान मोदी सरकार ने भी उनकी उपेक्षा की है।

लेख के निष्कर्षात्मक हिस्से में लेखक चर्चा करता है कि सत्ता में आने के बाद मोदी सरकार इन 88 औद्योगिक संकुलों का पर्यावरण सुधारने के काम में जुटने के बजाय उसने गाज़ियाबाद/इंदौर/एमपी,/झारसुगड़ा/ओडिशा/लुधियाना/पंजाब/पानीपत/हरियाणा/पटनचेरू-बोल्लारम/आंध्र प्रदेश/सिंगरौली/उप्र तथा मप्र/ और वापी/गुजरात/इन इलाक़ों पर लगाए गये प्रतिबंध उठाने का सिलसिला शुरू किया। लेखक वापी का रेकार्ड बताते हुए कहता है कि वहाँ प्रदूषण फैला रहे उद्योगों के ख़िलाफ़ तथा गुजरात प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड के अधिकारियों के ख़िलाफ़ 'सख़्त कार्रवाई' की ज़रूरत है, न कि उस पर लगे प्रतिबंध हटाने की।

लेख कुछ अन्य आँकड़ों एवं एक बड़े प्रश्न के साथ समाप्त होता है : 2009 में अंकलेश्वर औद्योगिक क्षेत्र, जिसका सीईपी आयी 88.5 है, भारत में 'अत्यधिक प्रदूषित इलाक़ों में' अव्वल था। 2011 और 2013 में वापी औद्योगिक क्षेत्र, जिसका सीईपीआई 85.39 है, इसमें अव्वल था। इस तरह गुजरात 2009 में 'अत्यधिक प्रदूषित इलाक़ों' में अव्वल था और 2011 तथा 2013 में भी अव्वल था।

गुजरात सरकार ने हमेशा ही इन मुद्दों पर प्रतिक्रिया देने की बजाय कन्नी काटना ही मुनासिब समझा है। जनाब मोदी, भारत के इन अत्यधिक और गम्भीर रूप से प्रदूषित औद्योगिक संकुलों की सफ़ाई के लिए आप के पास कोई योजना है?

VIII

स्वच्छ भारत अभियान के नाम पर छेड़ी गयी राष्ट्रव्यापी मुहिम में बड़े पैमाने पर वित्तीय और मानवीय संसाधनों का इस्तेमाल होगा। अपना दूसरा बजट पेश करते हुए सरकार ने स्वच्छ भारत के प्रति अपनी प्रतिबद्धता दोहराई और आने वाले पाँच सालों में पूरे देश में कम से कम छह करोड़ टॉयलेट बनाने का लक्ष्य सामने रखा। इसमें 620 अरब रुपयों की लागत लगने वाली है। सरकार ने इसके लिए 14

करोड़ 60 लाख रुपयों का इंतज़ाम किया है और उसकी अपेक्षा है कि बाक़ी कमी कॉरपोरेट क्षेत्र, अंतर्राष्ट्रीय दाता एजेंसियों आदि से पूरी होगी। यह भी कहा जा रहा है कि इस कार्यक्रम का मुख्य लक्ष्य देश में खुले शौच को समाप्त करना है— क्योंकि 120 करोड़ आबादी का लगभग आधा आज भी खुले में शौच करता है।

यह सब सुनने में बहुत अच्छा लगता है। उन अनिवासी भारतीयों को तो यह भी सुहाना लगता है जो बाहर जाकर देश की इसी छवि से चिंतित रहते हैं। मगर ये तमाम कोशिशें कहीं जाती नहीं दिखतीं, क्योंकि जैसा कि हमने पहले ही कहा है कि मूलभूत सवालों को सम्बोधित करने की कोशिश कहीं नहीं हो रही है। स्वच्छ भारत अभियान की जाति, जेण्डर, श्रम, सार्वजनिक स्वास्थ्य, पर्यावरण और शहर के जीवन आदि विभिन्न पहलुओं के आधार पर पड़ताल करने का काम अभी महज़ शुरू हुआ है। अगर हम बारीक़ी से देखने-समझने की कोशिश करेंगे तो हम ऐसी तमाम चुप्पियों और विलोपों को ढूँढ सकते हैं जिनमें से कुछ का ज़िक्र हम ऊपर कर चुके हैं।

ऐसा लग रहा है कि जनाब मोदी इतिहास पर प्रभाव डालने के लिए बहुत बेताब हैं। वे निश्चित ही अपने पूर्ववर्तियों की तरह कामयाब हो सकते हैं। अगर हम आज इंदिरा गाँधी के नाम के साथ 'ग़रीबी हटाओ' के नारे को याद करते हैं, राजीव गाँधी के प्रधानमंत्री पद काल को 'कम्प्यूटरों के युग' के तौर पर चिह्नित करते हैं तो आने वाली पीढ़ियाँ उसी तरह स्वच्छ भारत अभियान को मोदी के नाम के साथ जोड़ कर देखेंगी, जबकि वे साथ ही साथ देश के साथ जुड़े लक़ब 'दुनिया का सबसे गंदा मुल्क' को लेकर जूझ रही होंगी।

(इस लेख के सभी चित्र *गल्ली : विज़ुअल नैरेटिव्ज़.इण्डिया* के सौजन्य से. सम्पूर्ण चित्र-दीर्घा के लिये देखें, http://www.galli.in/2013/10/search-dignity-justice-sudharak-olwe.html)